International Advance Journal of Engineering, Science and Management (IAJESM)
Multidisciplinary, Indexed, Double Blind, Open Access, Peer-Reviewed, Refereed-International Journal.
SJIF Impact Factor =7.938, January-June 2024, Submitted in February 2024, ISSN -2393-8048

संवैधानिक द्वैधवाद की क्रियाशीलता: राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच शक्ति संतुलन पर पुनर्विचार

संजीदा खातून, शोधकर्ता, राजनीति विज्ञान विभाग, सनराइज विश्वविद्यालय, अलवर (राजस्थान)
डॉ. पपली राम, प्रोफेसर, राजनीति विज्ञान विभाग, सनराइज विश्वविद्यालय, अलवर (राजस्थान)

सार

भारतीय संविधान में संघीय ढांचे की परिकल्पना की गई है, जिसमें केंद्र और राज्य सरकारों के बीच शक्तियों का बंटवारा होता है। हालांकि, राज्यपाल की दोहरी भूमिका - राज्य के संवैधानिक प्रमुख और केंद्र के मनोनीत व्यक्ति के रूप में - राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच लगातार तनाव का कारण बनी हुई है। यह शोध 2000-2024 के प्रमुख न्यायिक फैसलों, संवैधानिक प्रावधानों और राजनीतिक केस स्टडी का विश्लेषण करके इस संवैधानिक द्वैतवाद के सैद्धांतिक, राजनीतिक और व्यावहारिक आयामों की जांच करता है। इस शोध पत्र का उद्देश्य यह आकलन करना है कि राज्यपाल एक निष्पक्ष संवैधानिक प्राधिकारी के रूप में कार्य करता है या केंद्र सरकार द्वारा राजनीतिक लाभ उठाने के साधन के रूप में। गुणात्मक केस स्टडी पद्धति और सैद्धांतिक विश्लेषण के माध्यम से, यह शोध पत्र शक्ति संतुलन को उजागर करता है और भारत में सहकारी संघवाद के निहितार्थों की जांच करता है।

विशेष शब्द: संवैधानिक द्वैतवाद, राज्यपाल-मुख्यमंत्री संबंध, संघवाद, विवेकाधीन शक्तियां, न्यायिक समीक्षा

1. परिचय

1950 में अपनाया गया भारतीय संविधान एक अर्ध-संघीय राजनीतिक संरचना की नींव रखता है जो संघ और राज्यों के बीच शक्तियों का परिसीमन करता है। जबकि संविधान निर्माताओं ने ब्रिटिश संसदीय मॉडल से प्रेरणा ली, उन्होंने भारत की सामाजिक-राजनीतिक विविधता और ऐतिहासिक विरासत के अनुरूप तत्वों को विशिष्ट रूप से शामिल किया [1]। ऐसी ही एक विशिष्ट विशेषता राज्य स्तर पर दोहरी कार्यकारी प्रणाली है, जहाँ राज्यपाल राज्य के संवैधानिक प्रमुख के रूप में कार्य करता है, और मुख्यमंत्री वास्तविक कार्यकारी शक्तियों का प्रयोग करते हुए निर्वाचित सरकार का नेतृत्व करता है। राज्यपाल की भूमिका को मूल रूप से औपचारिक और गैर-राजनीतिक के रूप में परिकल्पित किया गया था, जो संघीय भावना के अनुरूप राज्य मशीनरी के सुचारू संचालन को सुनिश्चित करता है [2]।

हालाँकि, समय के साथ, इस दृष्टिकोण पर तेजी से विवाद हुआ है। अनुच्छेद 163 (राज्यपाल को मंत्रिपरिषद की सहायता और सलाह पर कार्य करना), अनुच्छेद 174 (राज्य विधानमंडल को बुलाने, स्थगित करने और भंग करने से संबंधित शक्तियाँ), अनुच्छेद 200 (राष्ट्रपति के लिए विधेयकों को आरक्षित करने की शक्ति) और अनुच्छेद 356 (राष्ट्रपति शासन) जैसे अनुच्छेदों ने संवैधानिक ग्रे ज़ोन बनाए हैं जिनका अक्सर राजनीतिक पैंतरेबाज़ी के लिए शोषण किया जाता है [3]। ये प्रावधान, हालांकि असाधारण परिस्थितियों में संवैधानिक व्यवस्था बनाए रखने के लिए डाले गए हैं, अक्सर इनकी व्याख्या ऐसे तरीकों से की जाती है जो केंद्रीय अतिक्रमण का पक्ष लेते हैं, जिससे राज्य स्तर पर संघीय मानदंडों और कार्यकारी जवाबदेही का विरूपण होता है [4-6]। राज्यपाल का विवेक, विशेष रूप से राजनीतिक अस्थिरता के समय - जैसे कि त्रिशंकु विधानसभाएं, पार्टी की वफादारी में बदलाव, या विधायी गतिरोध - केंद्र और राज्यों के बीच तनाव का केंद्र बिंदु बन गया है। वर्ष 2000 के बाद के कई उदाहरणों ने राज्यपाल कार्यालय के बढ़ते राजनीतिकरण को रेखांकित किया है, जहाँ नियुक्तियाँ कथित तौर पर पक्षपातपूर्ण विचारों से प्रभावित होती हैं, और विवेकाधीन शक्तियों का प्रयोग इस तरह से किया जाता है जो लोकतांत्रिक रूप से चुनी गई राज्य सरकार को कमजोर करता है [7]। उदाहरण के लिए, बिहार (2005), अरुणाचल प्रदेश (2016), कर्नाटक (2018), और महाराष्ट्र (2019 और 2023) में राज्यपालों द्वारा निभाई गई विवादास्पद भूमिका की आलोचना लोकतांत्रिक सिद्धांतों और विधायी स्वायत्तता का उल्लंघन करने के रूप में की गई है [8-10]। न्यायिक व्याख्याओं ने राज्यपाल के अधिकार के इर्द-गिर्द निश्चित सीमाएँ खींचने की कोशिश की है। एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ (1994) में, सर्वोच्च न्यायालय ने अनुच्छेद 356 के दुरुपयोग को रोकने के लिए ऐतिहासिक दिशा-निर्देश निर्धारित किए, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया कि विधानसभा में बहुमत का परीक्षण सदन के पटल पर किया जाना चाहिए [11]। हाल ही में, नबाम रेबिया बनाम डिप्टी स्पीकर (2016) में, सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला सुनाया कि राज्यपाल के पास मंत्री की सलाह के बिना विधायी सत्र बुलाने या समय से पहले बुलाने का पूर्ण विवेक नहीं है [12]। इन निर्णयों के बावजूद, अस्पष्टता बनी हुई है, और संवैधानिक नैतिकता को अक्सर राजनीतिक सुविधा की वेदी पर बलि चढ़ा दिया जाता है।

यह शोध 2000 से 2024 तक राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच सत्ता के संतुलन पर फिर से विचार करके इस विकसित हो रहे संवैधानिक द्वैतवाद की आलोचनात्मक जांच करना चाहता है। अध्ययन न्यायिक निर्णयों, संवैधानिक ग्रंथों और वास्तविक दुनिया के केस स्टडी का विश्लेषण करने के लिए सैद्धांतिक और अनुभवजन्य पद्धतियों का उपयोग करता है। यह आगे यह पता लगाता है कि क्या राज्यपाल संवैधानिक तटस्थता की सीमाओं के भीतर काम कर रहा है या केंद्रीय राजनीतिक रणनीति के साधन के रूप में काम कर रहा है, जिससे संविधान द्वारा परिकल्पित संघीय ताने-बाने को नुकसान पहुँच रहा है [13-14]।

मुख्य शोध प्रश्न

1. राज्यपाल की संवैधानिक भूमिका मुख्यमंत्री के संबंध में किस प्रकार विकसित हुई है, विशेष रूप से राजनीतिक अस्थिरता वाली

स्थितियों में जैसे कि त्रिशंकु विधानसभा और राष्ट्रपति शासन लागू होना?

2. न्यायिक हस्तक्षेप, विशेष रूप से सर्वोच्च न्यायालय द्वारा, किस हद तक राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच शक्ति संतुलन को प्रभावित किया है?

3. क्या राज्यपालों द्वारा विवेकाधीन शक्तियों का प्रयोग राजनीतिक पक्षपात के पैटर्न को दर्शाता है, और यह राज्य स्तर पर संघीय सिद्धांतों और लोकतांत्रिक वैधता को कैसे प्रभावित करता है?

2. साहित्य समीक्षा

ग्रैनविले ऑस्टिन (2003) - लोकतांत्रिक संविधान पर काम करना[15] ऑस्टिन भारतीय संघवाद पर एक आधारभूत दृष्टिकोण प्रस्तुत करते हैं, तर्क देते हुए कि संविधान "भावना में केंद्रीकृत और संरचना में संघीय" है। वे राज्यपाल की भूमिका को केंद्र और राज्यों के बीच एक "संवैधानिक कड़ी" के रूप में देखते हैं, न कि एक स्वायत्त राजनीतिक एजेंट के रूप में। ऑस्टिन सहकारी संघवाद के महत्व पर जोर देते हैं, अनुच्छेद 356 जैसे संवैधानिक उपकरणों के माध्यम से केंद्र के अतिक्रमण के खिलाफ चेतावनी देते हैं। उनका मानक विश्लेषण संरचनात्मक-कार्यात्मक सिद्धांत के साथ संरेखित होता है, जो लोकतांत्रिक अखंडता को बनाए रखने के लिए संस्थागत तटस्थता की आवश्यकता को रेखांकित करता है। डी.डी. बसु (2011) - भारत के संविधान पर टिप्पणी[16] बसु अनुच्छेद 153-162 और 356 की एक सैद्धांतिक व्याख्या प्रस्तुत करते हैं, तर्क देते हुए कि राज्यपाल असाधारण परिस्थितियों को छोड़कर मंत्रिपरिषद की सलाह से बंधे हैं। वे विवेकाधीन शक्तियों के दुरुपयोग के खिलाफ चेतावनी देते हैं, विशेष रूप से राष्ट्रपति शासन की सिफारिश करते समय, यह कहते हुए कि ऐसी शक्तियों का "सावधानीपूर्वक और शायद ही कभी प्रयोग किया जाना चाहिए।" प्रत्यक्षवादी कानूनी सिद्धांत को लागू करते हुए, बसु की व्याख्या संसदीय लोकतंत्र में निहित संवैधानिक नैतिकता को रेखांकित करती है। एम.पी. जैन (2008) - भारतीय संवैधानिक कानून[17] एम.पी. जैन राज्यपाल की भूमिका के द्वैतवाद पर गहराई से विचार करते हैं, राज्यपाल की नियुक्तियों के इतिहास और अनुच्छेद 356 के दुरुपयोग को रेखांकित करते हैं। जैन एस.आर. बोम्मई जैसे मामलों में न्यायिक समीक्षा के विकास का आलोचनात्मक मूल्यांकन करते हैं और सत्ता के विवेकाधीन उपयोग पर सख्त संवैधानिक सीमाओं की वकालत करते हैं। उनकी आलोचना यथार्थवादी कानूनी सिद्धांत पर आधारित है, जिसमें इस बात पर जोर दिया गया है कि कैसे राजनीतिक व्यवहार ने संवैधानिक सुरक्षा उपायों को कमजोर कर दिया है। सरकारिया आयोग की रिपोर्ट (1988) [18] केंद्र-राज्य संबंधों की जांच करने के लिए कमीशन की गई यह ऐतिहासिक रिपोर्ट अनुशंसा करती है कि राज्यपाल को एक तटस्थ संवैधानिक प्राधिकारी होना चाहिए और उसे सक्रिय राजनीति में शामिल नहीं होना चाहिए। यह प्रस्ताव करता है कि राज्यपालों को मुख्यमंत्री के परामर्श से नियुक्त किया जाना चाहिए और संघीय संतुलन को बनाए रखना चाहिए। रिपोर्ट की सिफारिशें संस्थागतवाद और मानक संघीय सिद्धांत को दर्शाती हैं, जो राज्य और केंद्र के बीच सहकारी तंत्र को बहाल करने की मांग करती हैं। पुंछी आयोग की रिपोर्ट (2010) [19] न्यायमूर्ति मदन मोहन पुंछी की अध्यक्षता में, यह रिपोर्ट सरकारिया आयोग पर आधारित है और अनुच्छेद 356 को सीमित करने के लिए विशिष्ट सिफारिशें पेश करती है, जिसमें राजनीतिक अस्थिरता के सभी मामलों में फ्लोर टेस्ट की आवश्यकता शामिल है। यह राजनीतिक पक्षपात के खिलाफ चेतावनी देता है और राज्यपालों के लिए आचार संहिता की सिफारिश करता है। आयोग अस्पष्ट विवेक से उत्पन्न जोखिमों को रेखांकित करते हुए सिद्धांतबद्ध संघवाद और संवैधानिक जवाबदेही सिद्धांत को लागू करता है। रेखा सक्सेना (2012) - भारतीय राज्यपाल: औपनिवेशिक विरासत और लोकतांत्रिक दुविधा [20] सक्सेना राज्यपाल के कार्यालय के ऐतिहासिक विकास और इसके औपनिवेशिक परिवर्तन की जांच करती हैं। उनका तर्क है कि संवैधानिक सुरक्षा उपायों के बावजूद, राज्यपाल गठबंधन युग की राजनीति में एक राजनीतिक उपकरण बना हुआ है, खासकर त्रिशंकु विधानसभाओं में। उत्तर प्रदेश और झारखंड के उनके अध्ययन से पक्षपात के पैटर्न की ओर इशारा मिलता है। आलोचनात्मक संस्थागतवाद का उपयोग करते हुए, सक्सेना राजभवनों को अराजनीतिक बनाने और संवैधानिक तटस्थता को बढ़ाने के लिए संरचनात्मक सुधारों का आह्वान करते हैं। जी. गोपा कुमार (2013) – भारत में संघवाद और राजनीति[21] गोपा कुमार का अध्ययन राजनीतिक केंद्रीकरण और संस्थागत संघवाद के बीच परस्पर क्रिया की खोज करता है। उनका तर्क है कि राज्यपाल अक्सर केंद्र की ओर से कार्य करते हैं, खासकर जब अलग-अलग दल राज्य और संघ पर शासन करते हैं। वे इसे संघीय मूल्यों के क्षरण और क्षेत्रीय स्वायत्तता के हाशिए पर जाने से जोड़ते हैं। उनके निष्कर्ष शक्ति विषमता सिद्धांत के लेंस के भीतर तैयार किए गए हैं, जो भारत के संघीय मैट्रिक्स में संवैधानिक शक्ति के असंतुलन को उजागर करते हैं। उज्ज्वल कुमार सिंह (2014) – राज्यपाल का विवेक और संवैधानिक नैतिकता[22] सिंह संवैधानिक नैतिकता की आड़ में राज्यपाल के विवेक के बढ़ते उपयोग की आलोचना करते हैं। वे विवेक के राजनीतिकरण को प्रदर्शित करने के लिए उत्तराखंड और अरुणाचल प्रदेश से केस स्टडी प्रदान करते हैं, इसे "कार्यकारी पूर्वाग्रह का मुखौटा" कहते हैं। महत्वपूर्ण कानूनी अध्ययनों (सीएलएस) से प्रेरणा लेते हुए, सिंह ने इस बात का विश्लेषण किया कि कैसे अस्पष्ट संवैधानिक धाराएँ व्यक्तिपरक व्याख्याओं को सशक्त बनाती हैं जो केंद्र में सत्तारूढ़ पार्टी के पक्ष में होती हैं। पी.डी.टी. आचार्य (2017) - संवैधानिक ढाँचा और राज्यपाल का कार्यालय[23] लोकसभा के पूर्व महासचिव के रूप में, आचार्य राज्यपालों की कानूनी और संवैधानिक जिम्मेदारियों, विशेष रूप से अनुच्छेद 163 के तहत उनकी विवेकाधीन शक्तियों का विश्लेषण करते हैं।

वे इस बात पर जोर देते हैं कि संवैधानिक व्याख्या में स्पष्टता की कमी के कारण राज्यपाल की भूमिका को गलत समझा जाता है और अक्सर इसका दुरुपयोग किया जाता है। आचार्य विवेकाधीन शक्तियों के संहिताकरण की वकालत करते हैं। उनका दृष्टिकोण संवैधानिक व्यावहारिकता के साथ संरेखित है और राज्यपाल के आचरण में न्यायिक सुसंगतता पर जोर देता है।

3. संवैधानिक ढांचा और सैद्धांतिक आधार

3.1. राज्यपाल की भूमिका को नियंत्रित करने वाले अनुच्छेद

अनुच्छेद 153 से अनुच्छेद 162 भारत में राज्यों की कार्यकारी शक्ति के बारे में आधारभूत प्रावधान निर्धारित करते हैं। ये अनुच्छेद सामूहिक रूप से राज्यपाल को राज्य का नाममात्र प्रमुख स्थापित करते हैं, जिसके नाम पर सभी कार्यकारी कार्य किए जाएँगे। हालाँकि, वास्तविक कार्यकारी शक्ति मुख्यमंत्री की अध्यक्षता वाली मंत्रिपरिषद के पास होती है। इन प्रावधानों के अनुसार, राज्यपाल औपचारिक और पर्यवेक्षी कार्य करता है, जब तक कि संविधान द्वारा उसे विवेकानुसार कार्य करने का विशेष अधिकार न दिया जाए। बड़े पैमाने पर प्रतीकात्मक होने के बावजूद, इन अनुच्छेदों में निहित कानूनी अधिकार राज्यपाल को संवैधानिक वैधता और राज्य के प्रशासनिक ढांचे में एक महत्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हैं।

अनुच्छेद 163 राज्यपाल की मंत्रिपरिषद के साथ बातचीत के लिए सैद्धांतिक आधार प्रदान करता है। यह अनिवार्य करता है कि राज्यपाल मंत्रिपरिषद की सहायता और सलाह पर कार्य करेगा, सिवाय उन मामलों को छोड़कर जहाँ उसे अपने विवेकानुसार कार्य करने की आवश्यकता होती है। इस "विवेकाधीन" स्थान की व्याख्या विवादास्पद रही है। जबकि राज्यपाल से अधिकांश मामलों में मंत्रिपरिषद की सलाह का पालन करने की अपेक्षा की जाती है, इस अनुच्छेद की खुली प्रकृति ने व्यक्तिपरक व्याख्याओं की अनुमति दी है, खासकर राजनीतिक संकटों के दौरान। विवेकाधिकार के सटीक दायरे को परिभाषित करने में अस्पष्टता ने कई संवैधानिक संघर्षों और न्यायिक हस्तक्षेपों को जन्म दिया है।

अनुच्छेद 174 राज्यपाल को राज्य विधानसभा को बुलाने, स्थगित करने और भंग करने का अधिकार देता है। यह शक्ति त्रिशंकु विधानसभा, दलबदल या बहुमत के नुकसान से जुड़े परिदृश्यों में महत्वपूर्ण हो जाती है। हालाँकि पारंपरिक रूप से राज्यपाल मुख्यमंत्री और मंत्रिपरिषद की सलाह पर काम करते हैं, ऐसे उदाहरण सामने आए हैं जहाँ राज्यपाल ने इस अनुच्छेद का इस्तेमाल या तो फ्लोर टेस्ट में देरी करने या उसे जल्दी करने के लिए किया है, जो बदले में पार्टियों के राजनीतिक भाग्य को प्रभावित करता है। इस अनुच्छेद के विवादास्पद उपयोग ने, विशेष रूप से महाराष्ट्र (2019) और कर्नाटक (2018) में, तटस्थता और समय के बारे में चिंताएँ पैदा की हैं, जो दर्शाता है कि कैसे नाजुक राजनीतिक माहौल में संवैधानिक अधिकार को हथियार बनाया जा सकता है।

अनुच्छेद 200 राज्यपाल को राज्य विधानमंडल द्वारा पारित विधेयक को स्वीकृति देने, स्वीकृति रोकने या राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित करने का अधिकार देता है। तीसरा विकल्प, "राष्ट्रपति के लिए आरक्षण", विशेष रूप से विपक्षी दलों द्वारा शासित राज्यों में टकराव का विषय बन गया है। राज्यपालों ने इस अनुच्छेद का हवाला देकर महत्वपूर्ण विधानों- जैसे विश्वविद्यालय नियुक्तियों या कल्याणकारी योजनाओं- के पारित होने में देरी की है या अनिश्चित काल के लिए रोक लगा दी है। विधेयकों को स्वीकृति देने में विवेकाधीन देरी की आलोचना केरल, तमिलनाडु और पश्चिम बंगाल में हुई है, जहाँ इसे निर्वाचित सरकारों में बाधा डालने और विधायी स्वायत्तता को बाधित करने के रूप में देखा गया है।

अनुच्छेद 356, शायद सबसे विवादास्पद प्रावधान है, जो संवैधानिक तंत्र के टूटने की स्थिति में राज्यपाल की सिफारिश पर राष्ट्रपति को राज्य के शासन का नियंत्रण संभालने का अधिकार देता है। हालाँकि एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ (1994) के फैसले ने इसके दुरुपयोग पर संवैधानिक जाँच की, लेकिन इस अनुच्छेद ने संघीय चिंताओं को उठाना जारी रखा है। राष्ट्रपति को राज्यपाल की रिपोर्ट राष्ट्रपति शासन लागू करने का आधार बन जाती है, अक्सर राजनीतिक रूप से प्रेरित संदर्भों में। इस प्रकार, अनुच्छेद 356 न केवल केंद्र-राज्य गतिशीलता में राज्यपाल की महत्वपूर्ण भूमिका का उदाहरण है, बल्कि संवैधानिक औचित्य की आड़ में प्रणालीगत दुरुपयोग की संभावना को भी दर्शाता है।

3.2 व्याख्या में अस्पष्टता ऊपर चर्चा किए गए प्रावधान राज्यपाल को व्यापक अधिकार प्रदान करते हैं, लेकिन उनकी व्याख्या अक्सर विवादास्पद क्षेत्र में चली जाती है। संविधान राज्यपाल को औपचारिक और विवेकाधीन दोनों भूमिकाएँ प्रदान करता है, लेकिन यह हमेशा विवेकाधीन कार्यों की सीमा या जवाबदेही को निर्दिष्ट नहीं करता है। उदाहरण के लिए, विधानसभा को बुलाने में "संवैधानिक तंत्र का टूटना" या "विवेक" क्या है, यह राज्यपाल के व्यक्तिपरक निर्णय पर छोड़ दिया जाता है। इस कानूनी ग्रे ज़ोन ने राज्यपाल को या तो एक तटस्थ संवैधानिक प्राधिकरण के रूप में कार्य करने की अनुमति दी है, जो लोकतांत्रिक अखंडता को बनाए रखता है, या केंद्र के एक राजनीतिक एजेंट के रूप में, निर्वाचित राज्य सरकारों की स्वायत्तता को कम करता है। यह द्वंद्व भारत के संवैधानिक तनाव के मूल में है। इन अस्पष्टताओं पर स्पष्ट संहिताकरण या न्यायिक रूप से लागू करने योग्य दिशा-निर्देशों के अभाव के परिणामस्वरूप राजनीतिक रूप से विवादित विवादों और कानूनी चुनौतियों की एक श्रृंखला उत्पन्न हुई है, जो सुधार और स्पष्टीकरण की तत्काल आवश्यकता को इंगित करती है।

4. कार्यप्रणाली

इस शोधपत्र में गुणात्मक-अनुभवजन्य कार्यप्रणाली का उपयोग किया गया है, जिसमें शामिल हैं:

- प्रमुख राज्यपालीय हस्तक्षेपों का केस स्टडी विश्लेषण
- ऐतिहासिक सर्वोच्च न्यायालय के निर्णयों की न्यायिक समीक्षा
- संवैधानिक लेखों की सैद्धांतिक व्याख्या
- संवैधानिक विशेषज्ञों के साथ अर्ध-संरचित साक्षात्कार
- मीडिया अभिलेखागार, संसदीय बहस और राजभवन विज्ञप्तियों का विश्लेषण

5. संवैधानिक और न्यायिक ढांचा

5.1 अनुच्छेद 153-163 के तहत राज्यपाल की भूमिका: नाममात्र का मुखिया या विवेकाधीन अभिनेता?

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 153 से 163 राज्यों में कार्यकारी शाखा की बुनियादी संरचना को परिभाषित करते हैं और राज्यपाल को राज्य के संवैधानिक प्रमुख के रूप में स्थापित करते हैं। जबकि राज्यपाल की स्थिति काफी हद तक औपचारिक है, अनुच्छेद 163 राज्यपाल के लिए अपने विवेक से कार्य करने का प्रावधान करता है "ऐसे मामलों में जो इस संविधान द्वारा या इसके तहत कार्य करने के लिए आवश्यक हैं।" इस खंड ने महत्वपूर्ण अकादमिक और न्यायिक बहस को जन्म दिया है, विशेष रूप से विवेकाधीन अधिकार का गठन करने वाली व्याख्या के संबंध में। सिद्धांत रूप में, राज्यपाल मंत्रिपरिषद की सलाह से बाध्य है, जैसा कि शमशेर सिंह बनाम पंजाब राज्य (1974) सहित कई सुप्रीम कोर्ट के फैसलों में बरकरार रखा गया है, जिसने फैसला सुनाया कि विवेकाधीन शक्ति अपवाद है, आदर्श नहीं। हालाँकि, व्यवहार में, राज्यपालों ने विधानसभाओं को बुलाने, मुख्यमंत्रियों की नियुक्ति करने, फ्लोर टेस्ट के लिए बुलाने और विधेयकों को विलंबित करने जैसे मामलों में विवेक का प्रयोग किया है - अक्सर राजनीतिक रूप से संवेदनशील संदर्भों में। अनुच्छेद 163 की अस्पष्टता ने राज्यपालों को संवैधानिक संकटों के दौरान सक्रिय भूमिका निभाने में सक्षम बनाया है, जिससे निर्वाचित राज्य सरकारों के साथ तनाव पैदा होता है।

5.2 अनुच्छेद 174 और 200: विधानसभा को बुलाने और विधेयकों को स्वीकृति देने में विवेकाधिकार का दायरा

अनुच्छेद 174 राज्यपाल को राज्य विधानमंडल को बुलाने, स्थगित करने और भंग करने की शक्ति देता है। हालाँकि ये शक्तियाँ आम तौर पर मंत्रिपरिषद की सलाह पर इस्तेमाल की जाती हैं, लेकिन राज्यपालों ने कई मामलों में विवेकाधिकार का इस्तेमाल किया है - खासकर तब जब विधानसभा में बहुमत न हो या जब सरकार की वैधता पर सवाल हो। महाराष्ट्र (2019) में देखा गया कि फ्लोर टेस्ट के समय में देरी या हेरफेर करने के लिए अनुच्छेद 174 का इस्तेमाल दिखाता है कि यह प्रावधान राजनीतिक नतीजों को कैसे बदल सकता है। न्यायिक जांच ने स्पष्ट किया है कि बहुमत को चुनौती दिए जाने पर फ्लोर टेस्ट को तेजी से आयोजित किया जाना चाहिए, इस प्रकार राज्यपाल द्वारा मनमाने ढंग से देरी को सीमित किया जा सकता है।

अनुच्छेद 200 राज्यपाल को विधेयकों को स्वीकृति देने, स्वीकृति रोकने, उन्हें वापस करने (धन विधेयकों को छोड़कर) या उन्हें राष्ट्रपति के विचार के लिए आरक्षित करने का अधिकार देता है। यह अनुच्छेद केरल, पश्चिम बंगाल और तमिलनाडु जैसे राज्यों में हाल ही में विवादों के केंद्र में है, जहाँ राज्यपालों ने बिना किसी औचित्य के अनिश्चित काल के लिए स्वीकृति रोक रखी है। हालाँकि संविधान में समय-सीमा निर्धारित नहीं की गई है, लेकिन न्यायिक व्याख्या और मानक लोकतांत्रिक सिद्धांत का तर्क है कि स्वीकृति को मनमाने ढंग से रोका नहीं जा सकता। हाल ही में सुप्रीम कोर्ट में दायर जनहित याचिकाओं में राज्यपालों की लंबे समय तक निष्क्रियता को चुनौती दी गई है, जिसमें तर्क दिया गया है कि इससे विधायी स्वायत्तता और संघीय संतुलन कमज़ोर होता है।

5.3 अनुच्छेद 356 और एस.आर. बोम्मई के बाद दुरुपयोग सुरक्षा उपायों का विकास

अनुच्छेद 356, जिसे मूल रूप से संवैधानिक शासन के लिए सुरक्षा उपाय के रूप में डिज़ाइन किया गया था, राष्ट्रपति को राज्यपाल की सिफारिश पर राज्य का नियंत्रण संभालने का अधिकार देता है, जब "संवैधानिक तंत्र विफल हो जाता है।" हालांकि, समय के साथ, यह विपक्षी सरकारों को बर्खास्त करने के लिए इसके लगातार दुरुपयोग के कारण सबसे विवादास्पद प्रावधानों में से एक बन गया, खासकर 1990 के दशक से पहले।

एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ (1994) ने न्यायिक रूप से लागू करने योग्य सुरक्षा उपायों की स्थापना करके अनुच्छेद 356 के परिदृश्य को बदल दिया। सर्वोच्च न्यायालय ने फैसला सुनाया कि राष्ट्रपति शासन लागू करना न्यायिक समीक्षा के अधीन है और यह केवल राज्यपाल की व्यक्तिपरक संतुष्टि पर आधारित नहीं हो सकता। इसने अनिवार्य किया कि सरकार के बहुमत का परीक्षण विधानसभा के पटल पर किया जाना चाहिए, न कि राजभवन में या राज्यपालों द्वारा प्रस्तुत रिपोर्टों के आधार पर। बोम्मई ने केंद्र-राज्य संबंधों के लिए मार्गदर्शक मानदंडों के रूप में संवैधानिक संघवाद और लोकतांत्रिक वैधता के सिद्धांत को पेश किया। इस मिसाल के बावजूद, विवेकाधीन दुरुपयोग के उदाहरण जारी हैं, हालांकि अदालतों ने राज्य की स्वायत्तता की रक्षा के लिए अधिक सक्रिय रूप से कदम उठाया है, जैसा कि बाद के फैसलों में देखा गया है।

5.4 प्रमुख न्यायिक निर्णयों का विश्लेषण

एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ (1994): ऐतिहासिक दिशा-निर्देश

यह मामला नौ राज्य सरकारों की मनमानी बर्खास्तगी से उत्पन्न हुआ। नौ न्यायाधीशों की संविधान पीठ ने कई प्रमुख सिद्धांत निर्धारित किए:

1. अनुच्छेद 356 के तहत राष्ट्रपति की घोषणा न्यायिक समीक्षा से मुक्त नहीं है।
2. बहुमत सदन में साबित होना चाहिए, राज्यपाल की व्यक्तिपरक राय से तय नहीं होना चाहिए।
3. धर्मनिरपेक्षता संविधान की एक बुनियादी विशेषता है, और कोई भी विचलन राष्ट्रपति शासन को आमंत्रित कर सकता है।

इस प्रकार बोम्मई संघवाद, सीमित विवेक और न्यायिक निगरानी पर जोर देते हुए केंद्र-राज्य संबंधों के लिए संवैधानिक वॉटरमार्क बन गए।

रामेश्वर प्रसाद बनाम भारत संघ (2005): विघटन की सीमाएँ

इस मामले में, बिहार के राज्यपाल ने 2005 में विधानसभा भंग करने की सिफारिश की, यहां तक कि इसके शुरू होने से पहले ही, विधायकों की खरीद-फरोख्त और नैतिक शासन की कमी का दावा किया। सर्वोच्च न्यायालय ने इस विघटन को असंवैधानिक माना और फैसला सुनाया कि राज्यपाल विधायी परिणामों का पहले से ही आकलन नहीं कर सकते या नैतिक पुलिसिंग में संलग्न नहीं हो सकते। हालाँकि न्यायालय ने विधानसभा को बहाल करने से परहेज किया, लेकिन इसने इस सिद्धांत को मजबूत किया कि संवैधानिक संस्थाओं को अपनी परिभाषित भूमिकाओं के भीतर और प्रमाणिक साक्ष्य के साथ काम करना चाहिए, अटकलों के साथ नहीं।

नबाम रेबिया बनाम उपसभापति (2016): विवेकाधिकार और शक्ति परीक्षण

अरुणाचल प्रदेश में राजनीतिक संकट से उभरे इस फैसले में कहा गया कि राज्यपाल को मंत्रिपरिषद की सहायता और सलाह के बिना अनुच्छेद 174 के तहत विधानसभा सत्र को आगे बढ़ाने या विधायी कार्यवाही को निर्देशित करने का कोई अधिकार नहीं है। न्यायालय ने राज्यपाल के विवेकाधिकार के सीमित दायरे को दोहराया और कार्यकारी हस्तक्षेप पर विधायी प्रक्रियाओं की प्रधानता को रेखांकित किया। इस फैसले ने संवैधानिक नैतिकता के सिद्धांत को पुष्ट किया, राज्यपालों को संवैधानिक प्रमुख के रूप में उनकी स्थिति की याद दिलाई, न कि सक्रिय राजनीतिक खिलाड़ी के रूप में।

शिवसेना बनाम भारत संघ (2019): समय पर शक्ति परीक्षण प्रवर्तन

महाराष्ट्र में भाजपा के नेतृत्व वाले गठबंधन के बिना शक्ति परीक्षण के आधी रात को शपथ ग्रहण करने के बाद, सर्वोच्च न्यायालय ने पारदर्शिता और लोकतांत्रिक जवाबदेही सुनिश्चित करते हुए 24 घंटे के भीतर शक्ति परीक्षण कराने का आदेश दिया। इस मामले ने बहुमत के प्रक्रियात्मक सत्यापन की गति और निष्पक्षता पर जोर दिया, जिससे राज्यपालों द्वारा परिणामों में हेरफेर करने के लिए शक्ति परीक्षण में देरी करने के समय को सीमित किया जा सके। यद्यपि न्यायालय ने सरकार बनाने के लिए राज्यपाल के निमंत्रण की वैधता पर कोई निर्णय नहीं दिया, लेकिन यह स्पष्ट कर दिया कि सदन की बैठक बुलाने या विश्वास मत प्राप्त करने में देरी संवैधानिक रूप से संदिग्ध है।

6. केस स्टडी और अनुभवजन्य विश्लेषण

मामला 1: बिहार (2005)

संदर्भ: 2005 में, बिहार विधान सभा चुनाव में खंडित जनादेश आया और किसी भी पार्टी को स्पष्ट बहुमत नहीं मिला। चुनाव के बाद की अनिश्चितता के बीच, कई राजनीतिक समूहों ने गठबंधन बनाने की कोशिश की। हालाँकि, तत्कालीन राज्यपाल बूटा सिंह ने संभावित खरीद-फरोख्त और अस्थिरता का हवाला देते हुए विधानसभा को बुलाए बिना ही भंग करने की सिफारिश की। राष्ट्रपति ने इस सिफारिश को स्वीकार कर लिया और नए चुनावों की घोषणा की गई।

निर्णय: रामेश्वर प्रसाद बनाम भारत संघ (2005) में, सर्वोच्च न्यायालय ने माना कि विघटन के लिए राज्यपाल की सिफारिश असंवैधानिक थी, क्योंकि इसने विधायी प्रक्रिया को रोक दिया और निर्वाचित प्रतिनिधियों को विधानसभा में अपनी ताकत साबित करने का मौका नहीं दिया। न्यायालय ने कहा कि अस्थिरता का अनुमानित आकलन विघटन के लिए वैध आधार नहीं है।

निहितार्थ: इस फैसले ने विधायी बहुमत निर्धारित करने में फ्लोर टेस्ट की केंद्रीयता की पुष्टि की और राज्यपाल के नैतिक औचित्य को खारिज कर दिया। हालांकि अंतरिम अवधि में नए चुनाव कराए जाने के कारण विधानसभा को बहाल नहीं किया जा सका, लेकिन न्यायालय के फैसले ने राज्यपाल के विवेक पर एक गंभीर सीमा को चिह्नित किया और कार्यकारी मूल्यांकन पर लोकतांत्रिक प्रक्रिया को मजबूत किया।

मामला 2: अरुणाचल प्रदेश (2016)

संदर्भ: अरुणाचल प्रदेश में संवैधानिक संकट तब पैदा हो गया जब राज्यपाल जे.पी. राजखोवा ने सत्तारूढ़ कांग्रेस पार्टी के भीतर असंतोष की शिकायतों पर कार्रवाई करते हुए सरकार के बहुमत का परीक्षण करने के लिए एकतरफा तरीके से राज्य विधानसभा सत्र

को लगभग एक महीने आगे बढ़ा दिया। यह कार्रवाई मंत्रिपरिषद की सलाह के बिना की गई, जिसके परिणामस्वरूप राष्ट्रपति शासन लागू हुआ और अंततः सरकार बदल गई।

सुप्रीम कोर्ट का फैसला: नबाम रेबिया बनाम डिप्टी स्पीकर (2016) में, सुप्रीम कोर्ट की संविधान पीठ ने राज्यपाल की कार्रवाई को असंवैधानिक घोषित किया। इसने फैसला सुनाया कि राज्यपाल अपने विवेक से विधानसभा सत्र को तब तक नहीं बुला सकते या आगे नहीं बढ़ा सकते जब तक कि संविधान द्वारा स्पष्ट रूप से अनुमति न दी गई हो। न्यायालय ने माना कि अनुच्छेद 163 और 174 राज्यपाल को कार्यपालिका की सलाह को दरकिनार करने की अनुमति नहीं देते।

निहितार्थ: इस फैसले ने राज्यपाल के हस्तक्षेप पर एक महत्वपूर्ण संवैधानिक रोक लगाई, खासकर राजनीतिक रूप से अस्थिर समय के दौरान। इसने विधायी मामलों में निर्वाचित सरकारों की प्रधानता पर पुनः जोर दिया और संवैधानिक नैतिकता को बरकरार रखा, इस बात पर बल दिया कि विवेकाधीन शक्तियां निरपेक्ष नहीं हैं और उन्हें संवैधानिक सीमाओं के भीतर ही काम करना चाहिए।

मामला 3: महाराष्ट्र (2019)

संदर्भ: महाराष्ट्र में 2019 के विधानसभा चुनावों के बाद, खंडित जनादेश सामने आया और पार्टियों के बीच लंबी बातचीत सरकार बनाने में विफल रही। एक नाटकीय मोड़ में, राज्यपाल ने देवेंद्र फडणवीस (भाजपा) और अजीत पवार (राकांपा गुट) को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया और सुबह-सुबह शपथ दिलाई, जिससे फ्लोर टेस्ट को दरकिनार कर दिया गया। विधानसभा को बुलाने में काफी देरी हुई, कथित तौर पर भाजपा को बाद में दलबदल के जरिए बहुमत साबित करने का मौका देने के लिए।

SC का फैसला: शिवसेना बनाम भारत संघ (2019) में, सुप्रीम कोर्ट ने 24 घंटे के भीतर फ्लोर टेस्ट का आदेश दिया, जिसमें कहा गया कि राज्यपाल की देरी से लोकतांत्रिक अखंडता को खतरा है। हालाँकि कोर्ट ने फडणवीस को आमंत्रित करने के राज्यपाल के शुरुआती फैसले की वैधता पर फैसला नहीं सुनाया, लेकिन उसने ऐसी स्थितियों में समयबद्ध फ्लोर टेस्ट की आवश्यकता पर जोर दिया।

निहितार्थ: यह मामला विधानसभा के विश्वास से संबंधित न्यायिक सक्रियता में एक महत्वपूर्ण मोड़ बन गया। इस फैसले ने संकेत दिया कि न्यायपालिका प्रक्रियागत निष्पक्षता को बनाए रखने के लिए सक्रिय रूप से हस्तक्षेप कर सकती है, और राज्यपालों को राजनीतिक उद्देश्यों के लिए फ्लोर टेस्ट में देरी नहीं करनी चाहिए। इस मामले ने राज्यपाल के विवेक के राजनीतिकरण पर चर्चा को और गहरा कर दिया और सरकार गठन में संहिताबद्ध समयसीमा की आवश्यकता पर प्रकाश डाला।

मामला 4: कर्नाटक (2018)

संदर्भ: 2018 के कर्नाटक विधानसभा चुनावों में, भाजपा सबसे बड़ी पार्टी के रूप में उभरी, लेकिन उसके पास बहुमत नहीं था। कांग्रेस-जेडी(एस) गठबंधन द्वारा स्पष्ट बहुमत पेश किए जाने के बावजूद, राज्यपाल वजुभाई वाला ने भाजपा को सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया और उन्हें बहुमत साबित करने के लिए 15 दिन का समय दिया - एक समयसीमा जिसकी व्यापक रूप से अत्यधिक और राजनीति से प्रेरित होने के लिए आलोचना की गई।

परिणाम: बड़े पैमाने पर सार्वजनिक प्रतिक्रिया और सुप्रीम कोर्ट के हस्तक्षेप के बाद, जिसने 24 घंटे के भीतर फ्लोर टेस्ट का आदेश दिया, भाजपा के बी.एस. येदियुरप्पा ने विश्वास मत से पहले इस्तीफा दे दिया, यह स्वीकार करते हुए कि उनके पास संख्या की कमी है।

प्रतिबिंब: कर्नाटक प्रकरण ने प्रक्रियात्मक विवेक और राजनीतिक नैतिकता के बीच तनाव को रेखांकित किया। हालाँकि राज्यपाल ने तकनीकी संवैधानिक दायरे में काम किया, लेकिन उनके फैसले की आलोचना चुनाव के बाद के गठबंधनों की अनदेखी करने और संभावित रूप से राजनीतिक पैंतरेबाज़ी में मदद करने के लिए की गई। इस मामले ने राज्यपालों के लिए पारदर्शी और निष्पक्ष तरीके से काम करने की आवश्यकता की पुष्टि की, खासकर त्रिशंकु विधानसभाओं में।

मामला 5: पश्चिम बंगाल और केरल (2020-2023)

संदर्भ: हाल के वर्षों में, पश्चिम बंगाल और केरल जैसे गैर-भाजपा शासित राज्यों में राज्यपाल और राज्य सरकारों के बीच लंबे समय तक गतिरोध देखने को मिला। राज्यपालों पर विधेयकों को मंजूरी न देने, बजट सत्र को पेश करने में देरी करने और अक्सर पारदर्शिता के बिना विश्वविद्यालय नियुक्तियों में हस्तक्षेप करने का आरोप लगाया गया। उदाहरण के लिए, केरल में राज्यपाल आरिफ मोहम्मद खान ने वैचारिक और प्रक्रियात्मक आपत्तियों का हवाला देते हुए उच्च शिक्षा और स्थानीय शासन से संबंधित कई विधेयकों को मंजूरी नहीं दी।

विश्लेषण: ये उदाहरण गैर-राजनीतिक संवैधानिक कार्यों में राज्यपाल की भूमिका को ध्यान में लाते हैं, जैसे कि विधेयकों को मंजूरी देना या नियुक्तियाँ करना। जबकि संविधान अनुच्छेद 200 के तहत मंजूरी के लिए समय सीमा निर्धारित नहीं करता है, अनिश्चितकालीन देरी विधायी प्रक्रियाओं को कमजोर करती है। इसी तरह, विश्वविद्यालयों में नियुक्तियाँ - जबकि तकनीकी रूप से राज्यपाल को कुलाधिपति के रूप में शामिल करना - राजनीतिक नियंत्रण के लिए तेजी से विवादित आधार बन गए हैं।

निहितार्थ: ऐसे रुझान राज्यपाल के कार्यालय को एक औपचारिक संवैधानिक भूमिका से एक समानांतर शक्ति केंद्र में बदलने का सुझाव देते हैं - खासकर विपक्षी दलों के नेतृत्व वाले राज्यों में। ये संघर्ष संवैधानिक मौन के दुरुपयोग को रोकने के लिए नियमित संवैधानिक कर्तव्यों में राज्यपाल की सीमाओं और समयबद्ध दायित्वों को परिभाषित करने की आवश्यकता पर जोर देते हैं।

7. विश्लेषण और चर्चा

अनुभवजन्य केस स्टडीज से उभरने वाला एक आवर्ती विषय राजनीतिक संकटों के दौरान राज्यपालों का पक्षपातपूर्ण आचरण है। महाराष्ट्र (2019), कर्नाटक (2018) और बिहार (2005) के उदाहरण दर्शाते हैं कि राज्यपाल के विवेक का इस्तेमाल अक्सर केंद्र में सत्तारूढ़ पार्टी के पक्ष में करने के लिए किया जाता है, खासकर त्रिशंकु विधानसभाओं की स्थिति में या मुख्यमंत्रियों की नियुक्ति के दौरान [15]। तटस्थ संवैधानिक प्रमुखों के रूप में कार्य करने के बजाय, कई राज्यपालों ने राजनीतिक सुविधाकर्ता के रूप में कार्य किया है, जो पार्टी संरेखण के आधार पर सरकार के गठन को सक्षम या बाधित करते हैं। यह प्रवृत्ति राज्यपाल की संघीय कड़ी और संवैधानिक संतुलन के रक्षक के रूप में मानक दृष्टिकोण को चुनौती देती है [16]।

संविधान के अनुच्छेद 163, 174 और 200 में निहित अस्पष्टता राज्यपालों को विवेक की एक विस्तृत श्रृंखला प्रदान करती है, जिसे अक्सर अपरिभाषित छोड़ दिया जाता है। इन पाठ्य अंतरालों का राजनीतिक उद्देश्यों के लिए नियमित रूप से शोषण किया जाता है, विशेष रूप से विधानसभा सत्रों में देरी करने, कानून को रोकने या फ्लोर टेस्ट की समयसीमा को प्रभावित करने के लिए [17]। विधेयकों को मंजूरी देने या सदन को बुलाने के लिए समयबद्ध प्रक्रियाओं की कमी राजनीतिक रूप से प्रेरित देरी की अनुमति देती है, जैसा कि केरल और पश्चिम बंगाल में हाल की घटनाओं में देखा गया है [18]। इससे पता चलता है कि कैसे संवैधानिक चुप्पी, लोकतांत्रिक सम्मेलन द्वारा भरे जाने के बजाय, अक्सर रणनीतिक पैंतरेबाज़ी के लिए उपयोग की जाती है [19]। न्यायिक हस्तक्षेप का प्रभाव: सुधारात्मक या बाद के उपाय? सुप्रीम कोर्ट ने गवर्नर की ज्यादतियों को रोकने में महत्वपूर्ण भूमिका निभाई है, खासकर एस.आर. बोम्मई बनाम यूओआई (1994), नबाम रेबिया (2016), और शिवसेना (2019) में। हालांकि, इन हस्तक्षेपों की प्रभावशीलता अक्सर बाद की रही है - लोकतांत्रिक प्रक्रियाओं को नुकसान पहुंचाने के बाद संवैधानिक उल्लंघनों को सुधारना [20]। बिहार (2005) जैसे कई मामलों में न्यायालय ने राज्यपाल के कार्यों को असंवैधानिक घोषित किया, लेकिन राजनीतिक परिणामों को उलट नहीं सका। इस प्रकार न्यायिक हस्तक्षेप निवारक सुरक्षा उपायों की तुलना में सुधारात्मक तंत्र के रूप में अधिक कार्य करते हैं [21], जिससे पूर्व-प्रतिक्रियात्मक जवाबदेही संरचनाओं की आवश्यकता पर सवाल उठते हैं। सहकारी संघवाद और राज्य स्वायत्तता के लिए निहितार्थ विवेकाधीन शक्ति के दुरुपयोग का सहकारी संघवाद पर गहरा प्रभाव पड़ता है, जो भारत के संवैधानिक दर्शन की आधारशिला है। जब राज्यपाल संवैधानिक मध्यस्थ के बजाय केंद्र का एजेंट बन जाता है, तो राज्य की स्वायत्तता से समझौता होता है, और केंद्र-राज्य का विश्वास कम होता है [22]। यह दोहरी संप्रभुता के सिद्धांत को कमजोर करता है और भारतीय संघीय व्यवस्था में विकेंद्रीकरण को कमजोर करता है। इसके अलावा, यह क्षेत्रीय सरकारों के विधायी और प्रशासनिक अधिकार को बाधित करता है, संविधान के निर्माताओं द्वारा परिकल्पित शक्ति संतुलन को विकृत करता है [23]। राज्यपालों और केंद्र में सत्तारूढ़ दल के बीच वैचारिक तालमेल राज्यपाल के व्यवहार को प्रभावित करने वाला एक प्रमुख कारक रहा है। 2000-2024 तक नियुक्तियों और कार्यों के एक अध्ययन से पता चलता है कि विवादास्पद निर्णयों में शामिल अधिकांश राज्यपाल या तो सत्तारूढ़ दल के पूर्व सदस्य थे या साझा वैचारिक झुकाव रखते थे [24]। इसका परिणाम पक्षपातपूर्ण निर्णय लेने में होता है और राज्यपाल के बारे में जनता की धारणा को एक तटस्थ संवैधानिक प्राधिकारी के रूप में नष्ट करता है। जैसा कि केरल, पश्चिम बंगाल और महाराष्ट्र में देखा गया है, राजनीतिक और वैचारिक निष्ठाएँ अक्सर संवैधानिक मानदंडों को दरकिनार कर देती हैं, जिससे चयनात्मक हस्तक्षेप होता है [25]।

8. परिणाम

1. राज्यपाल की विवेकाधीन सीमाओं पर संवैधानिक जनादेश अस्पष्ट बना हुआ है

न्यायिक व्याख्याओं और संवैधानिक टिप्पणियों के बावजूद, राज्यपाल के विवेक का दायरा कई क्षेत्रों में कानूनी रूप से अपरिभाषित बना हुआ है। इस अस्पष्टता ने विभिन्न राज्यपालों को अपनी शक्तियों की असंगत रूप से व्याख्या करने की अनुमति दी है, जो अक्सर संवैधानिक औचित्य की तुलना में राजनीतिक आवश्यकता से अधिक निर्देशित होती है [26]।

2. न्यायिक हस्तक्षेप ने प्रक्रियात्मक निष्पक्षता को मजबूत किया है, लेकिन दुरुपयोग को नहीं रोका जा सका

जबकि सर्वोच्च न्यायालय ने प्रक्रियात्मक निष्पक्षता की पुष्टि करने में एक आवश्यक भूमिका निभाई है, इसके फैसले आमतौर पर प्रतिक्रियात्मक होते हैं और संवैधानिक उल्लंघनों को रोक नहीं सकते हैं। राज्यपाल के आचरण को नियंत्रित करने वाले संहिताबद्ध नियमों की कमी राजनीतिक संक्रमण के दौरान मनमाने फैसले लेने में सक्षम बनाती है [27]।

3. राज्यपाल का विवेक अक्सर राजनीतिक गणनाओं के साथ जुड़ा होता है, खासकर त्रिशंकु विधानसभाओं में

केस स्टडीज खंडित जनादेश में विवेक के रणनीतिक उपयोग के पैटर्न को प्रकट करते हैं, अक्सर फ्लोर टेस्ट में देरी करने, चुनाव के बाद गठबंधन को सरकार बनाने से रोकने या केंद्र की पसंदीदा पार्टी को समर्थन जुटाने के लिए समय देने में मदद करने के लिए। यह

एक ऐसे कार्यालय के व्यवस्थित राजनीतिकरण को इंगित करता है जिसका मूल उद्देश्य संवैधानिक शासन सुनिश्चित करना था [28]।

4. संस्थागत सुरक्षा उपाय (जैसे स्वतंत्र नियुक्ति प्रक्रिया) आवश्यक हैं

राज्यपालों की नियुक्ति और जवाबदेही तंत्र में सुधार की तत्काल आवश्यकता है। स्वतंत्र और परामर्शदात्री नियुक्ति प्रक्रिया स्थापित करने के लिए सरकारिया और पुंछी आयोगों की सिफारिशें अभी तक लागू नहीं हुई हैं [29]। नियमों का संहिताकरण, प्रदर्शन लेखा परीक्षा और निश्चित कार्यकाल अधिक तटस्थता सुनिश्चित कर सकते हैं और राजनीतिक हेरफेर को कम कर सकते हैं।

9. संस्तुतियाँ

- राज्यपाल के विवेक के नियमों को संहिताबद्ध करने के लिए संघवाद पर एक राष्ट्रीय आयोग का गठन
- राज्यपालों की नियुक्ति के लिए स्वतंत्र कॉलेजियम की स्थापना
- सर्वोच्च न्यायालय द्वारा समयबद्ध फ्लोर टेस्ट अनिवार्यता
- अस्पष्टता को दूर करने के लिए अनुच्छेद 163 और 200 में संशोधन
- सरकारिया और पुंछी आयोग की संस्तुतियों का कार्यान्वयन

10. निष्कर्ष

अध्ययन का निष्कर्ष है कि भारतीय संविधान राज्यपाल और मुख्यमंत्री के बीच सैद्धांतिक रूप से संतुलित संरचना प्रदान करता है, लेकिन राजनीतिक वास्तविकताओं ने इस संतुलन को बिगाड़ दिया है। राज्यपाल का कार्यालय, जिसका उद्देश्य केंद्र और राज्यों के बीच एक तटस्थ कड़ी के रूप में है, तेजी से संघीय टकराव का स्थल बन गया है। न्यायिक जाँच आंशिक राहत प्रदान करती है, लेकिन दीर्घकालिक स्थिरता के लिए संरचनात्मक और प्रक्रियात्मक सुधारों की आवश्यकता होती है।

संदर्भ सूची

[1] ऑस्टिन, जी. (1999). लोकतांत्रिक संविधान का कार्यान्वयन: भारतीय अनुभव.
[2] बसु, डी.डी. (2022). भारत के संविधान का परिचय.
[3] भारत का संविधान, अनुच्छेद 163, 174, 200 और 356.
[4] सरकारिया आयोग की रिपोर्ट (1988).
[5] पुंछी आयोग की रिपोर्ट (2010).
[6] अरोड़ा, बी. (2003). भारत में अंतर-सरकारी संबंध: राज्यपाल की भूमिका.
[7] सिंह, एम.पी. (2020). भारत में संघवाद: विरोधाभास और चुनौतियाँ.
[8] रामेश्वर प्रसाद बनाम भारत संघ (2005) 7 एससीसी 627.
[9] नबाम रेबिया बनाम उपसभापति (2016) 8 एससीसी 1.
[10] शिवसेना बनाम भारत संघ (2019).
[11] एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ (1994) 3 एससीसी 1.
[12] सुप्रीम कोर्ट के आदेश, नबाम रेबिया मामला।
[13] जैन, एम.पी. (2022)। भारतीय संवैधानिक कानून।
[14] राव, वी. (2023)। "संवैधानिक नैतिकता का संकट: भारत में राज्यपाल का विवेक", इंडियन जर्नल ऑफ पब्लिक लॉ।
[15] पलशिकर, एस. (2019)। राज्यपालों की राजनीति: संघवाद में घर्षण। आर्थिक और राजनीतिक साप्ताहिक, 54(48), 12–15।
[16] ऑस्टिन, जी. (2003)। लोकतांत्रिक संविधान का कार्य करना: भारतीय अनुभव। नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
[17] बसु, डी. डी. (2011)। भारत के संविधान पर टिप्पणी (8वां संस्करण)। नई दिल्ली: लेक्सिसनेक्सिस।
[18] सक्सेना, आर. (2021)। राज्यपाल की विवेकाधीन शक्तियाँ: केरल और पश्चिम बंगाल में देरी और दुविधाएँ। भारतीय संवैधानिक अध्ययन पत्रिका, 5(2), 43–59।
[19] चंद्रचूड़, ए. (2016)। कानून की उचित प्रक्रिया: एक तुलनात्मक संवैधानिक परिप्रेक्ष्य। नई दिल्ली: ईस्टर्न बुक कंपनी।
[20] भारत का सर्वोच्च न्यायालय। (1994)। एस.आर. बोम्मई बनाम भारत संघ, एआईआर 1994 एससी 1918।
[21] भारत का सर्वोच्च न्यायालय। (2005)। रामेश्वर प्रसाद बनाम भारत संघ, (2006) 2 एससीसी 1।
[22] अरोड़ा, बी. (2003)। भारत की संघीय प्रणाली: उभरते रुझान और राज्यपालों की भूमिका। नई दिल्ली: सेंटर फॉर पॉलिसी रिसर्च।
[23] कोहली, ए. (2004)। भारत में राज्य शक्ति और संघवाद। भारत के लोकतंत्र की सफलता में (पृष्ठ 163-191)। कैम्ब्रिज: कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस।
[24] शर्मा, बी.एल. (2021)। राज्यपाल की विवेकाधीन शक्तियाँ: समकालीन भारत में अभ्यास और राजनीति। नई दिल्ली: नेशनल लॉ हाउस।
[25] गोपा कुमार, जी. (2013)। भारत में संघवाद और राजनीति। नई दिल्ली: अटलांटिक पब्लिशर्स।
[26] जैन, एम.पी. (2008)। भारतीय संवैधानिक कानून (छठा संस्करण)। गुड़गांव: लेक्सिसनेक्सिस बटरवर्थ्स।
[27] सिंह, यू.के. (2014)। गवर्नर का विवेक और संवैधानिक नैतिकता। जर्नल ऑफ इंडियन लॉ एंड पॉलिटिक्स, 2(1), 20–38।
[28] चौधरी, एस., खोसला, एम., और मेहता, आर. (संपादक)। (2016)। भारतीय संविधान की ऑक्सफोर्ड हैंडबुक। नई दिल्ली: ऑक्सफोर्ड यूनिवर्सिटी प्रेस।
[29] पुंछी आयोग। (2010)। केंद्र-राज्य संबंधों पर आयोग की रिपोर्ट। गृह मंत्रालय, भारत सरकार।